स्कूल के इर्दगिर्द

❑ चन्द्र प्रकाश कड़ा

स्कूल को लेकर बच्चों में भय, संदेह और संकोच लगभग सामान्य बात है। स्कूल का परिवेश कैसा हो, इस पर बहुत बड़ी-बड़ी बातें होती रही हैं । ऐसा कम ही देखा गया है कि स्कूल की संस्कृति की निर्मिति में बच्चों के अन्तर्जगत को ध्यान में रखा गया हो। यह बच्चों के प्रति शिक्षक की समझदारी और संवेदनशीलता के बिना संभव भी नहीं है । टीकमगढ (मध्यप्रदेश) बाल साहित्य केन्द्र के माध्यम से संपन्न यह प्रयोग स्कूल के परिवेश, शिक्षण-सामग्री की प्रकृति और उसके उपयोग तथा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के बारे में कुछ मूल्यवान अनुभवों को सामने रखता है ।

दूर दराज के इलाके हों या हमारे आस-पास का कोई कोना, शायद ही कोई ऐसी जगह हो, जहां के बच्चे स्कूल जाने में आनाकानी न करते हों । प्रतिदिन इसी आना-कानी पर सैकड़ों बच्चे अपने अभिभावकों से बुरी तरह पिटते हैं, गालियां खाते हैं, और बहुत से दयनीय हालत में घसीटते हुए, स्कूल की दहलीज तक लाये जाते हैं ।

लेकिन सोचने और महसूस करने वाली बात यह है कि बच्चे स्कूल जाना क्यों पसंद नहीं करते ? बच्चे स्कूल से क्यों जी चुराते हैं ? कहीं स्कूल की कक्षाओं में व्याप्त भय इसका मूल कारण तो नहीं ? या मौजूदा शिक्षण सामग्री से खिसियाहट है, जिसमें जरा-सी भी दखलंदाजी शिक्षक की नाराजगी का कारण बन सकती है? कुछ न कुछ तो है, जिसके कारण बच्चे स्कूल जाना नहीं चाहत! यह किसी परिकल्पना के तहत सोची गई प्रश्नों की कोई परिपाटी नहीं है । बल्कि यह शैक्षिक माहौल के बीच दिन प्रतिदिन पनपने वाला वह संदेहास्पद रवैया है, जो स्कूल की कक्षा में बहुत ही नाटकीय ढंग से जन्म लेता है, और वहीं दबा रहता है, जिसे हमारी उथली नजरें कभी नहीं टटोल पाती ।

स्कूलों में ढेरों विसंगतियां जन्म ले रही हैं । शिक्षण को रचनात्मकता की जगह और अधिक विकृत बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। ऐसा शिक्षण बच्चों को न सिर्फ उनके बचपन से बल्कि अपने समाज से धीरे-धीरे काटता जा रहा है । अपनी इर्द-गिर्द की दुनिया के भीतर बैठने की ललक को इसने कुचल डाला है । कभी शारीरिक, तो कभी मानसिक यातनाओं के बलबूते पर पलने वाली शिक्षा ने बच्चों के सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन को ही चरमरा कर रख दिया है । इसके परिणाम-स्वरूप शिक्षण-संस्थाएं बच्चों के लिए चिंता, संदेह एवं तनाव का कारण बनती जा रही हैं ।

मैंने कई ऐसे विद्यालय देखे जो अपनी सम्पन्न पृष्ठभूमि के कारण एक मजबूत रुतबा बनाये हुए हैं । उनके परिवेश, उनकी कार्य-संस्कृति को समझने का मौका मुझे उस समय मिला जब मैं बाल-साहित्य केन्द्र द्वारा तैयार किये गये वैकल्पिक-पाठ्यक्रम का क्रियान्वयन करके कई सरकारी विद्यालयों में देख रहा था । बाल-साहित्य केन्द्र मध्य प्रदेश के टीकमगढ़ जिले में एक बाल-पुस्तकालय की मदद से शिक्षा की चरमराती रीढ़ को संवारने का प्रयास कर रहा था।

एक तरफ भड़कीली शिक्षा-व्यवस्था ने समाज के बहुत बड़े हिस्से को लालायित किया है । भड़कीली शिक्षा व्यवस्था से मेरा तात्पर्य उन निजी विद्यालयों से है, जो बचपन के आनन्द को स्मृति-पटल पर अंकित होने से पहले ही क्षत-विक्षत करते जा रहे हैं । स्वाभाविक इच्छाओं को चकनाचूर किया जा रहा है । यांत्रिक ढंग से विचित्र सामग्री की चकाचौंध ने ढेरों बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं, उनकी सोच, संवेदना को बुरी तरह से रौंद डाला है । दूसरी तरफ सरकारी विद्यालयों से मिलने वाली शिक्षा का रवैया दरिद्र बना हुआ है। विद्यालयों की स्थिति, उसका तंत्र एवं दिनचर्या न सिर्फ बच्चों के बचपन को विकृत बना रही है, बल्कि उनकी कार्य करने की प्रवृत्ति, समझने की इच्छा एवं सृजनशीलता को भी नष्ट कर रही है।

शासन तंत्र शिक्षा की बुनियाद को कमजोर करके नित नये स्वरूपों का जामा पहनाता जा रहा है जिसके भीतर विचित्र आडंबर के सिवा कुछ नहीं है । मुखौटे की बाहरी शक्ल से शिक्षा की नई नीति के कारगर होने का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता और अगर अंदाजा लगा भी लिया जाये तो इसका विरोध करना आम बात नहीं है, क्योंकि यह बड़े-बड़े अनुसंधानों एवं शैक्षिक-परिषदों में जन्मी होने का दावा करती है ।

स्कूल के इर्द-गिर्द की परिस्थितियों में कैसी शिक्षा की जरूरत है ? सामग्री क्या होनी चाहिए ? यह सोचने की स्वतंत्रता न तो

समाज को है, और न ही शिक्षक संगठनों को । उनका काम है जो नीति बनाई गई है, उसका हूबहू वैसा ही क्रियान्वयन करना। यानि वह उस यन्त्र की तरह है, जो बटन दबाते ही अपने पूर्व नियोजित कार्य को करने लगता है । और बच्चे भी वैसा का वैसा अपने भीतर ठूंसें ऐसी मंशा साफ झलकती है । यह कितनी सुगम या कठिन है? कहां अड़चनें आ रही हैं ? इस बात से उन्हें कोई लेना-देना नहीं है । यह सोचना उन आलीशान कपाट बंद अनुसंधानों का है, जिनके इर्द-गिर्द बहने वाली हवा तक से भी शिक्षकों का कोई संपर्क नहीं होता है ।

पर सोचने वाली बात यह है कि क्या खूबसूरत नीतियां या सामग्री गढ़ देने से बच्चों के शिक्षण को संपन्न और समृद्ध बनाया जा सकता है ? जिन विद्यालयों में यह नीतियां क्रियान्वित की जा रही हैं, वहां न तो बच्चों के बैठने के लिए पर्याप्त भवन है, और न ही पर्याप्त अध्यापक । अधिकांश विद्यालयों में एक ही अध्यापक पूरी कक्षाओं को संभालते-संभालते थक जाता है । भीषण गर्मी के दिनों में बच्चे पेड़ों की छांव ताकते फिरते हैं ।

प्रो. कृष्ण कुमार जो खुद भी बाल साहित्य केन्द्र के लगभग डेढ़ दशक तक अध्यक्ष रह चुके हैं । उन्होंने केन्द्र के परिप्रेक्ष्य में लिखा है – ''हमने पाया कि रंग, स्पर्श ध्वनि और शब्द; इन सभी के गहरे व्यक्तिगत अनुभव, जो बचपन की सबसे बड़ी पूंजी होते हैं, बच्चों के जीवन में दुर्लभ होते जा रहे है । एक जर्जर समाज व्यवस्था के बीच जीवन के लिए संघर्ष करती परम्पराएं इन निहायत जरूरी अनुभवों को मुहैया कराने में सक्षम नहीं रह पा रही हैं । बच्चे बड़े अवश्य हो रहे हैं पर अनुभव जगत के नाम पर एक बड़े शून्य के बीच ।''

अब तक कई विद्यालय मैंने ऐसे देखे जो कई-कई दिनों तक खुलते तक नहीं । जो विद्यालय खुलते हैं, उनमें न तो शिक्षक पूरे समय उपस्थित होते हैं, और न ही कोई रुचिकर शिक्षण-कार्य किया जाता है । ऐसे विद्यालयों में बहुत कम बच्चे दाखिला लेते हैं । दाखिला लेने वाले वे बच्चे होते हैं जिनके पास इसका कोई विकल्प नहीं होता है । शिक्षकों की मनमानी, संवेदनहीन व्यवहार एवं तानाशाही को बच्चे ही भोगते है । शासन-तंत्र की नजर-अंदाजी से इस विचित्र रवैये को और भी पनाह मिली है । शिक्षा तंत्र पर भ्रष्ट राजनीति का प्रतिदिन वर्चस्व बढ़ता जा रहा है । इसके परिणाम स्वरूप शिक्षा एक ऐसे दलदल में धंसती चली जा रही है, जहां से निकल पाना बहुत मुश्किल की बात है । ऐसी विकट परिस्थितियों में कुछ शैक्षिक संगठन एकलव्य, दिगन्तर, बोध एवं बाल-साहित्य केन्द्र, शिक्षा में नवीन क्षितिज खोजने एवं विकृत होती शिक्षा के लिए कुछ यथार्थ संभावनाएं ढूंढने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

बाल-साहित्य केन्द्र लगभग दो दशक से इसी दिशा में प्रयासरत है । टीकमगढ़ शहर में एक बाल-पुस्तकालय की मदद से केन्द्र अपने काम की परिधि ढूंढते हुए उन पुलों तक पहुंचा, जो बच्चों की यथार्थ जिन्दगी और उनकी शिक्षा के बीच टूटे पड़े थे । केन्द्र एक लंबे समय से अभिभावकों से जुड़ा रहा जिनके बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहते थे । ढेरों लालचों, यातनाओं एवं प्रताड़नाओं के बावजूद वह अपने बच्चों के मन को न बिलमा सके । बच्चों के सवालिया मन एवं दुविधा भरी जिदों से पूरी तरह तंग आ चुके अभिभावक नित नये स्कूल खोजते, सम्पर्क करते और अपने बच्चों को दखिला दिलाते । लेकिन बहुत जल्द ही अपने बच्चों को स्कूली परिधि से बाहर निकालने के लिए मजबूर भी हो जाते थे।

बाल-साहित्य केन्द्र में एक शैक्षिक परियोजना के अर्न्तगत ऐसे ही बच्चों को अपनी शोध की धुरी मानकर कार्य किया गया । शैक्षिक परियोजना के तहत प्राथमिक विद्यालयों के लिए वैकल्पिक पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया । अध्ययन कार्य के समय मौजूदा बोझिल पाठ्यक्रम एवं ऊबाऊ पाठ्य-सामग्री की पड़ताल के साथ-साथ बच्चों की उलझनों एवं चिन्ताजनक स्थितियों का गहराई से विश्लेषण किया गया । कुछ मूल पहलुओं को उभारने का प्रयास किया गया । मुझे उस समय जो अनुभव हुए वह आज तक मेरे स्मृति पटल से हटे नहीं । उन्हीं में से कुछ अनुभवों को मैं यहां लिपिबद्ध करने जा रहा हूं । यह जताने का प्रयास कर रहा हूं कि बच्चों के लिए स्कूल महज उपदेश देने की जगह न हो बल्कि कल्पना, कौतुक और समझने की इच्छा जगाने वाली एक आनन्दायक जगह हो ।

एक ऐसा लड़का सुब्रत केन्द्र में आया जिसे किताबों से बहुत घृणा थी । उसकी मां स्वयं एक प्राथमिक विद्यालय की शिक्षिका थी, और पिता दुकानदार । जिस समय सुब्रत केन्द्र में आया, उसकी उम्र सात वर्ष हो चुकी थी । लगातार तीन वर्षों से कितने ही स्कूलों में सुब्रत को ले जाया गया, लेकिन पढ़ना तो दूर की बात, वह बैठने तक को राजी नहीं था । पिता हताश होकर घर बैठ गये, पर मां हमेशा इसी उधेड़बुन में लगी रहती कि आखिर सुब्रत को कैसा स्कूल पसंद होगा ? अपने साथ स्कूल ले जाती तो सुब्रत चीख-चीखकर आसमान हिला देता । कक्षा का सारा सामान उलट-पुलट देता, जिसकी वजह से कई बार उसकी मां को अपमानित भी होना

पड़ा। इससे गुस्से में आकर वह उसे पीट भी देती पर बाद में बहुत दुखी होती । सुब्रत से जब पूछा जाता कि - ''तुम क्यों इतना तंग करते हो ?'' तब रोते बिलखते हुए बस एक ही जवाब देता - ''मम्मी हमें स्कूल नहीं जाना, हमें घर ले चलो ।''

कितनी ही किताबें वह गुस्से में चींथ चुका था। कई शिक्षकों ने उसे बहुत समझाया, रंग-बिरंगे खिलौने खेलने को दिये और कइयों ने उसे जबरदस्ती रखने का प्रयास भी किया । पर उसकी जिद के आगे सभी थक कर चुपचाप बैठ गये । लेकिन सुब्रत की मां अभी भी पूरी तरह निराश नहीं हुई थी । सुब्रत को बहुत पढ़ाने की साध रखने वाली मां की चिन्ता यह थी कि ''वह कैसे स्कूल में पढ़ना पसंद करेगा ? कब वह अपनी मर्जी से स्कूल जाने के लिए राजी होगा ?'' उसका ममत्व सुब्रत को स्वयं की मर्जी से स्कूल में आते-जाते देखना चाहता था । इसी कोशिश में वह हमेशा लगी रहती।

सुब्रत के स्वभाव, उसकी आदतों एवं अड़चनों को बहुत ही गंभीरतापूर्वक समझने के उपरान्त कई मूल संभावनाएं मेरे मन में पनपने लगी थीं । उसकी मां भले ही सुब्रत की रहस्य बनी स्थिति को न समझ पायी हो, पर मैं बहुत हद तक उसके अतीत की अड़चनों एवं मंशा को रेखांकित कर चुका था। सुब्रत को एक ऐसे माहौल की आवश्यकता थी जो आम स्कूली ढर्रे से कुछ हटकर हो। प्रेम, सम्मान, स्वतंत्रता एवं अपनत्व के बलबूते पर उसके भीतर जगह बनाई जा सकती थी । उसकी मंशा को ध्यान में रखकर अगर काम किया जाये तो वह जरूर स्कूल आना चाहेगा। पर शुरूआत कैसे हो ? यह सोच का विषय था।

केन्द्र में पढ़ने वाले बच्चों से यह रहस्य छुपा नहीं था । सबको बता दिया था कि एक नया लड़का सुब्रत पढ़ने आयेगा। उनकी छोटी-छोटी चर्चाओं का विषय भी सुब्रत हुआ करता । जब कल्पनाओं में खोते तो सुब्रत के इर्द-गिर्द अपने आप को पाते । कई सवाल रोज पूछे जाते, ''सुब्रत कब आयेगा ? क्या वह भी हमारे साथ रोज पढ़ने आयेगा ? कैसा होगा वह ?''

आज सुब्रत को आना था । इसलिए सभी बहुत आतुरता से सुब्रत की बाट जोह रहे थे । जरा-सी भी आहट होती और कहने लगते, ''सुब्रत आ गया'' । पर सुब्रत जब नहीं दिखता तो सब अपने अपने कार्यों में लग जाते । कोई सुब्रत के लिए मिट्टी के खिलौने पर रंग कर रहा था तो कोई चित्रकारी करने में मग्न था । एक बच्ची गरिमा ने तो उस पर एक पूरी कविता ही गढ़ ड़ाली थी।

बच्चे आपस में बातचीत कर रहे थे - ''जरा जल्दी करो सुब्रत आने ही वाला है ।'' गगन कह रहा था - ''सुब्रत क्या पहन कर आयेगा ?'' दो तीन बच्चों ने जवाब दिया, ''वह स्कूल का बच्चा है, इसलिए ड्रेस पहन कर आयेगा।'' इस तरह ढेरों कल्पनाओं और संभावनाओं के बीच बच्चों में काफी देर तक तर्क-वितर्क चलता रहा। लेकिन जब सुब्रत आया तो सभी हक्के बक्के रह गये, क्योंकि न तो वह ड्रैस पहने था और न ही वजनी बस्ता टांगे था। अपनी मां का कसकर आंचल पकड़े हुए पैर जमीन पर गुस्से से थपथपा रहा था, तो कभी जोर से हिनकता आंचल को एक पल के लिए भी अपनी उंगलियों की पकड़ से ढीला नहीं होने दे रहा था। सारे बच्चे उसके इर्द-गिर्द जमा हो गये तो सुब्रत दुबक कर अपनी मां के पीछे खड़ा हो गया । वह सहमी-सहमी, पर पूरी तरह चौकन्नी नजरों से बच्चों को देख रहा था।

बच्चों ने खुद के बनाये उपहारों को उसे देना चाहा, पर उसने किसी भी चीज को छुआ तक नहीं । मां ने कहा- ''घबराओ नहीं। यह कोई स्कूल नहीं है जो तुम इतना डर रहे हो । यहां तो बच्चे खेलने और अच्छे-अच्छे काम करने आते हैं । देखो वह कितने अच्छे खिलौने बना रहा है, तुम भी बनाओगे ?''

उसने बेमन से कहा - ''नहीं, हमें तो घर ले चलो ।''

बहुत मुश्किल से वह हम लोगों के साथ अलग-अलग कमरों में गया, जहां बच्चे अपनी रुचि के कार्यों में मग्न थे ।

एक कमरे में छोटी उम्र के बच्चे ब्लाक्स से खेल रहे थे । कोई घर बनाकर उसके सामने बगीचा बनाने की कोशिश करता और जब ब्लॉक्स बिखर जाते तो बुदबुदा कर फिर से जोड़ने की कोशिश करता । पुनीत ने एक गोल घेरे में ब्लॉक्स जमाये और कहने लगा ''देखो हमारा कुंआ कितना गहरा है ।'' शहबाज और रूपा मिट्टी के खिलौनों की धूल साफ करके अलमारी में सजा रहे थे। इन्हें कुछ ही समय हुआ था केन्द्र में आये हुए, पर पूरी तरह से मग्न और निश्चिंत होकर अपने काम में लगे हुए थे ।

पास के कमरे में कुछ बच्चे तरह-तरह की पत्तियों को उनके गुण-धर्म के आधार पर छांटकर ढेरियां बना रहे थे, बड़ी पत्तियां, छोटी पत्तियां, किनारे कटे-फटे, ऐसी पत्तियां और मोटे डंठल वाली पत्तियां आदि । यह खोजी दल था जो कुछ समय पहले तमाम प्रकार की पत्तियों का संग्रह करके लाया था ।

एक और टोली बिलकुल ध्यान मग्न होकर पुस्तकालय कक्ष में डटी हुई थी । कोई पैर फैलाये कहानियों, कविताओं, चित्रों की किताबें पढ़ रहा था तो कोई अपनी पुस्तक का सारांश लिख रहा था । अपनी प्रतिभा और समझ का परीक्षण करते बच्चे खुद भी कहानियां, कविताओं को गढ़ने में व्यस्त थे । सौमित्र कभी चित्रों की किताब को उलट-पुलटकर देखता तो कभी चित्रों पर अपनी उंगलियों को फेर कर आड़ी-टेढ़ी रेखाओं के बीच भरे रंगों को छुटाने का प्रयास करता । पुस्तकों की दुनियां में खोये बच्चे कभी

कल्पनाओं में गुम हो जाते, तो कभी किसी कहानी के भावनात्मक पक्ष से दुखी होकर अनमने हो जाते ।

कल तक इन्हीं बच्चों को पढ़ने-लिखने का नाम सुनकर कंपकपी छूटने लगती थी । आज उन्हीं बच्चों ने ढेरों कहानियां, कवितायें, घटनायें, चित्र अपनी खुद की सूझबूझ से बुन डाले थे। इनकी रचनाओं में खुद की समझ, अनुभवों, संभावनाओं एवं कल्पनाओं का बेहतरीन समावेश था । कोई इनकी रचनाओं को तोड़े मरोड़े या नजरअंदाज करे तो इन्हें पसंद नहीं था । अपने इर्द-गिर्द की दुनिया का जैसे-जैसे बोध होता गया वैसे-वैसे इनकी रचनाओं में परिपक्वता आती गई । सचमुच रचनाएं उनके मन की गहराइयों में होने वाली हलचल का आईना थीं जिन्होंने हम सभी को कई बार अचरज में डाल दिया । बच्चे जिस नजर से दुनिया को देखते हैं अपने चारों ओर के परिवेश पर उनकी जो काल्पनिक और भावनात्मक प्रतिक्रिया होती है, उसमें शिक्षक की आस्था नहीं होती, जिसके कारण एक ही छत के नीचे बैठकर शिक्षक और बच्चे अपने विचारों एवं सोच की अलग-अलग दुनिया में जीते हैं । काश! बच्चों के आन्तरिक जगत को अंको की कसौटी पर परखने वाला शिक्षक बाल मन को टटोलकर, उनके मन की दुनिया में बैठकर ज्ञान का सृजन करने में मदद कर रहा होता तो शायद विद्यालय शक की निगाह से न देखे जाते ।

केन्द्र के बच्चों की प्रतिक्रियाओं, उनके क्रियाकलापों ने सुब्रत की मां के हृदय में एक विश्वास जगा दिया था । उन्हें महसूस होने लगा था कि सुब्रत यहां जरूर रुकना चाहेगा । क्योंकि सुब्रत की नजर कभी इन बच्चों पर आकर ठहर जाती थी तो कभी उन दीवारों पर लटके पैनल्स पर, जहां बच्चों ने अपनी मंशा से स्वयं के चित्रों, रचनाओं एवं चीजों को प्रदर्शित किया था। मां के साथ वह भी उस प्रदर्शित सामग्री को बहुत करीब जाकर देख रहा था । अपनी नन्हीं-नन्हीं उंगलियों से चीजों को छूकर उसे शायद मजा आ रहा था ।

कुछ समय पश्चात दोनों ने अगले दिन मिलने का वादा किया और चले गये । जाते हुए सुब्रत को हम लोग बहुत देर तक देखते रहे । सुब्रत कभी दौड़कर अपनी मां से आगे निकल जाता तो कभी फुदकते हुए मां के साथ-साथ चलता । बच्चों के लिए यह सोच का विषय था कि - क्या सुब्रत कल आयेगा ?

अगले दिन सुब्रत अपनी मां के साथ उस समय आया जब हम बच्चों की टोली के साथ पास के खेतों में बोई गई फसल का अवलोकन एवं विश्लेषण करने जा रहे थे । खेतों में पहुंचकर वह भी बहुत खुश था । और बच्चों की तो खुशी का ठिकाना नहीं था, क्योंकि अधिकांश बच्चों ने मिट्टी में से फूटते हुए अंकुर पहली बार देखे थे । कोई मिट्टी को खोदकर अंकुर की जड़ तक पहुंचने की कोशिश कर रहा था, तो कोई नन्हें पौधों की पत्तियां गिन रहा था। बच्चों ने अपनी डायरी में रिपोर्ट दर्ज की कि - ''एक सप्ताह बाद गेंहू का नन्हा पौधा दिखा, जो अंकुर है । कुछ गेहूं के दाने मिट्टी के ऊपर पड़े थे, जो अंकुरित नहीं हुए थे । मगर फूलकर मोटे हो गये थे ।'' कुछ सवाल बच्चों को बहुत तंग कर रहे थे कि इतना नन्हा पौधा मिट्टी की इतनी मोटी पर्त तोड़कर बाहर कैसे निकल आता है ? और दूसरा सवाल यह था कि गेहूं के दाने कितने लम्बे समय तक सूखे रहते हैं, पर कोमल अंकुर (पौधा) दानों के अन्दर जिंदा कैसे बना रहता है ?

मैना, गौरैया, नीलकंठ, सत-भैया, हरियल, हुद-हुद, पीलक न मालूम कितने ही पक्षी खेतों के ऊपर मंडरा रहे थे । कभी नीलकंठ और हरियल पक्षी कीड़े-मकौडों पर यकायक झपट पड़ते और कीड़े को पकड़कर इत्मीनान से किसी बिजली के तार या सूखी टहनी पर बैठकर, उसे अधमरा करके सीधा का सीधा निगलने की बार-बार कोशिश करते। बच्चों का चेहरा कभी कुलबुलाते कीड़े की तड़प से दुखी हो जाता, तो कभी चालाक और फुर्तीले हरियल पक्षी के करतब से चुलबुला उठता । बच्चे असमंजस में थे कि इतनी दूर से इस हरियल को इतने बारीक कीड़े कैसे दिख जाते हैं? बच्चे भी कम पड़ताली नहीं थे, उन्होंने कुछ मोटे और फूले गेहूं के दानों को मसलकर देखा, तो दानों में से दूधिया पदार्थ बह निकला। उन्होंने जब उसे चखा तो खुशी से उछलने लगे - ''अरे यह तो मीठा और स्वादिष्ट है। अच्छा तभी यह पक्षी इन्हें खाने के लिए इतनी उछल-कूद कर रहे हैं । देखो कैसे लड़ झगड़ रहे हैं ।''

बच्चे कई बार ऐसे संवेदनशील एवं संभावना में लिपटे माहौल का रसास्वादन कर चुके थे । पर सुब्रत के लिये यह बिलकुल पहला अवसर था, जब वह अपने इर्द-गिर्द के संसार तथा उसमें शामिल विभिन्न चीजों की विचित्रता से परिचित हो रहा था ।

हमेशा की तरह आज भी बच्चों ने कुछ चीजों का संग्रह किया, जैसे - पंख, चमकीले पत्थर, अंकुरित दाने एवं पत्तियां । सुब्रत जब किसी धूप से चमकते पत्थर को देखता तो दौड़कर उसे उठाने का प्रयास करता, पर नजदीक पहुंचकर वह विचलित हो जाता था। बच्चे अलग-अलग स्थानों पर खड़े होकर उस पत्थर को ढूंढने में उसकी मदद करते । पर यह बात अभी उनकी समझ में नहीं आ रही थी कि नजदीक पहुंचते ही पत्थर चमकना क्यों बंद कर देते हैं ? वह इसे जादू ही समझ कर अपने मन को समझा लेते थे ।

लगभग एक सप्ताह गुजर चुका था । अब तक सुब्रत के कई दोस्त भी बन चुके थे । और अब तो वह कुछ देर तक किसी कमरे में चल रही गतिविधि में भी शामिल हो जाता था। और जब उसकी

मंशा होती वह चुपके से अपनी मां को आफिस में बैठा देखकर पुन: अपने काम में लग जाता। अब उसे बहुत हद तक यह विश्वास हो चुका था कि उसे यहां रहने में कोई खतरा नहीं है ।

वह जब चाहे किसी भी चीज को छू सकता है, देख सकता है, किसी से भी बात कर सकता है, जहां मन करे वहां बैठ सकता है । और ताज्जुब की बात तो यह थी कि वह अब लौटते वक्त मां का साथ छोड़ बच्चों के साथ तांगे से घर जाने लगा। अगले दिन बातचीत के समय सब कुछ बताता कि तांगा कहां-कहां होकर उसे घर ले गया । उसने भीड़-भाड़ भरे बाजार को देखा, हार्न बजाती मोटर गाड़ियों को देखा, भारी गठरीनुमा बस्तों के साथ ड्रैस पहने स्कूल के बच्चों को देखा। एक दिन कहने लगा- ''सर यहां बच्चे ड्रेस पहनकर क्यों नहीं आते? न ही बच्चे बड़े-बड़े बस्ते लाते हैं?'' मैं ने कहा- ''यह स्कूल नहीं है, इसलिए यहां वह सब नहीं होता, जो तुमने रास्ते में देखा ।'' वह अचरज भरी नजरों से मुझे कुछ देर तक देखता रहा और यकायक बोला-'सर यह स्कूल नहीं है, तो यहां बहुत सारी किताबें क्यों रखी हैं ? इन्हें बाहर फेंक दो । हमें किताबे अच्छी नहीं लगती।'' मैंने कहा, ''किताबों को आप ही बाहर फेंकोगे, पर हमारी एक शर्त है, जिस किताब को तुम फेंकना चाहोगे, उसे एक बार पूरी खोलकर देखोगे । अगर तुम्हें वाकई पसंद न आये तो जरूर फेंक देना ।'' वह राजी हो गया । तब हम दोनों उस अलमारी के पास गये जिसमें ढेर सारी किताबें रखी हुई थी । उसने बहुत ही फुर्ती से अलमारी खोली और दो-तीन किताबों को बहुत ही नाराजी के साथ उठाया और जमीन पर पटक दिया । मैंने कहा-''फैंकने से पहले इन्हें जरा खोलकर तो देख लो । शायद अच्छी किताब हो।'' वह जमीन पर पसरकर किताबों के पेजों को पलटता तो पलटता ही जाता। जब तक कि पूरी पुस्तक के पेज न पलट लेता । वह एक के बाद एक पुस्तक उलट-पलट कर देखता रहा, पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर किसे बाहर फेंक दूं ।

सुन्दर चित्रों, सहज शब्दावली में लिखी छोटी-छोटी कहानियों, कविताओं की आकर्षक किताबों ने उसके मन को उद्धेलित कर दिया। कभी चित्रों पर निगाहें जमाये स्तम्भित सा दिखता तो कभी जल्दी-जल्दी पेजों को उलट-पुलट कर अपने बाल मन को समझाने का प्रयास करता । किसे फेंके, किसे रखे यह उसकी चिंता का विषय बन चुका था । वह बीच-बीच में से दो-तीन किताबें निकालकर देखने लगा, जैसे वर्षों से पनप रही अरुचिकर धारणा को मिटाना चाह रहा हो ? पर वे और पसंद आने वाली किताबें ही निकली। मैंने कहा ''क्या बात है ? किताबें बाहर फेंकनी नहीं है?'' तब वह लड़ियाते हुए बोला ''नहीं इन्हें हम अपने घर ले जायेंगे ।'' और उसने आठ-दस छोटी-छोटी किताबों को अपने पास समेट लिया। मैंने कहा ''घर ले जाकर इन्हें फाड़ोगे क्या ?''

स्कूल के इर्द-गिर्द की परिस्थितियों में कैसी शिक्षा की जरूरत है ? सामग्री क्या होनी चाहिए ? यह सोचने की स्वतंत्रता न तो समाज को है, और न ही शिक्षक संगठनों को । उनका काम है जो नीति बनाई गई है, उसका हूबहू वैसा ही क्रियान्वयन करना। यानि वह उस यन्त्र की तरह है, जो बटन दबाते ही अपने पूर्व नियोजित कार्य को करने लगता है। और बच्चे भी वैसा का वैसा अपने भीतर ढूंसें ऐसी मंशा साफ झलकती है। शून्य के बीच।

वह बोला ''नहीं मम्मी को दिखायेंगे ।'' मैंने कहा, ''जरूर ले जाओ, पर संभालकर रखना और जब मन करे वापिस ले आना, ताकि और बच्चे इन्हें पढ़ सकें ।'' उसने जिन किताबों को चुना उनमें से कुछ किताबें इस प्रकार थीं - प्यासी मैना, नन्हें मुन्ने गीत, कोरी कल्पना, बुढ़िया की रोटी, आदि ।

अगले दिन वह अपने पिता के साथ आया, वह सुस्ताये इसके पहले ही जबरदस्ती कमरों में खींचकर ले गया । कभी खुद के बनाये प्रदर्शित चित्रों, मिट्टी के खिलौनों एवं पुस्तकालय में रखी ढेर सारी किताबों को दिखाता तो कभी बच्चों से मिलवाता। सुब्रत में आये यकायक बदलाव से उसके पिता स्वयं हैरानी में थे। कल तक यही सुब्रत स्कूल का नाम सुनकर चीख-पुकार मचाने लगता था । बढ़िया से बढ़िया किताबें खरीदकर लाए, पर सुब्रत की नाराजी के कारण किताबों की सूरत बिगड़ गई ।

उन्होंने बताया - सुब्रत ने आज हमें देर रात जगाए रखा, बार-बार किताबों की कहानी सुनाने को कहता । जैसे ही एक किताब पूरी होती वह दूसरी हमारे हाथ में थमा देता था । उसकी हठधर्मी पूर्ण इच्छा इतनी प्रबल थी कि मैं उसे चाहते हुए भी दबा नहीं सका। रात को ही उसने मुझसे यह बात मनवा ली थी कि 'मै उसका स्कूल देखने चलूंगा ।' सारे दिन जो भी यहां करता सब कुछ सुनाता । हमारा ध्यान जरा इधर-उधर हो जाता तो तुनक कर बैठ जाता । सुबह से 'टिफिन जल्दी लगाओ' की रट लगाये रहता । उसको यह चिन्ता बहुत थी कि कहीं तांगा न निकल जाये । मन में अद्भुत खुशी इसलिए हो रही है कि इसकी मां ने एक जीवंत स्कूल इसके लिये तलाश कर ही लिया । मैं तो हैरान होकर चुपचाप बैठ गया था। पर उनके त्याग और प्रयास की दाद देता हूं।

उन्होनें आगे कहा आपके प्रेम, सम्मान एवं सहृदयता से §

ओतप्रोत बर्ताव ने सचमुच सुब्रत के भीतर एक जगह बना ली है। उसकी स्मृति में कैसे सजीव चित्र उभरने लगे हैं, कितनी छोटी-छोटी बातें भी उसको याद आती हैं । उसकी स्मृति में यह छोटी-छोटी घटनाएं कैसे अंकित होती जा रही है, अपने चारों ओर के संसार के बिंबों को ग्रहण करते हुए उसकी चेतना में कई अनोखे सवाल उठते हैं, जिन्हें सुनकर हम हैरान रह जाते हैं । हकीकत में अब समझ एवं विचारों की धारा फूट निकली है । अच्छा हुआ जो इसे जबरदस्ती किसी तामझाम वाले स्कूल में दाखिला नहीं दिलवाया, वरना पढ़ना लिखना इसके लिए नीरस और थकाऊ काम हो जाता। ज्ञान के कँटीले पथ पर उसको कितनी असफलताओं का मुंह देखना पड़ता, और शिक्षा इसके लिए पूरी तरह से अंकों की कसौटी पर परखा जाने वाला किताबी काम बन जाती।

सुब्रत के पिता की सोच एवं विचारों को सुनकर मुझे ऐसा लगा मानो कि वह भी वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था की जर्जर स्थिति से परेशान हैं । वे शिक्षा के उथलेपन से न सिर्फ नाराज हैं, बल्कि चिंतित भी है । एक लम्बे समय से महसूस करने वाली पीड़ा आज गुबार बनकर फूट पड़ी है ।

काश ! हर बच्चे के अभिभावक इनकी तरह बाल मन की पीड़ा को महसूस कर रहे होते, तो शायद शिक्षा की जड़ें इतनी न उखड़ पातीं और न ही बच्चों की इच्छाओं, भावनाओं, उनकी आकाक्षांओं को इतना रौंदा जाता । इसलिए शैक्षिक तंत्र को ही पूरी तरह से दोषी ठहराना उचित नहीं होगा। इस अटकाव भरी अटपटी संरचना में अभिभावक समाज की भी उतनी ही हिस्सेदारी है, जितनी की शैक्षिक तंत्र की ।

बच्चों की बुद्धि, उनकी समझ, इर्द-गिर्द की दुनिया से शिक्षा कोई अलग वस्तु बनती जा रही है । भय पर टिकी, ढोंग करने वाली शिक्षा, बच्चों के सिर पर हर वक्त लदे बोझ की भांति दिख रही है। जैसा महान शिक्षाविद रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक ''शिक्षा'' में लिखा है - ''जब तक पाठ्य-पुस्तकों की अस्वादपूर्ण सामग्री को हूबहू ढंग से निगलने एवं परीक्षा जैसी अबूझ सभ्यता शिक्षा का उद्देश्य बनी रहेगी, तब तक स्वचेतना का जागरण नहीं हो सकता। केवल पाठ्यपुस्तकें बच्चों को उनकी अपनी जीवंत दुनिया के दर्शन नहीं करा सकतीं, बल्कि उनकी बची-खुची अभिलाषा को कुचलेंगी ही । शिक्षा उन्हें आनंद रहित, नीरस, उजाड़ भू-खण्ड की तरह महसूस होगी जहां एक पल भी ठहरने का मन नहीं करता।''

मैं यह नहीं कह रहा कि पाठ्य पुस्तकों को तिलांजलि दे दी जाये, बल्कि मैं यह जताने की कोशिश कर रहा हूं कि केवल पाठ्य पुस्तकें ही बाल-मन का बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक एवं भावनात्मक पक्ष नहीं उभार सकतीं और न ही उनकी जिज्ञासा को उभारने, नई संभावनाओं को ढूंढने के लिए माहौल पैदा कर सकती हैं ।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वर्णमाला तथा शब्दों की रूखी-सूखी पंक्तियों या पद्बंधों को दुहराते रहने से बच्चों के मन और मस्तिष्क का कोई विकास नहीं हो सकता, जिनमें न इर्द-गिर्द की सुगंध है न ही किसी प्रकार का आनंद, अनुभव। न ही कोई नई बात है और न इधर उधर हिलने-डुलने के लिए आजादी भरा तिल भर स्थान । क्या इनसे उनमें विशेष योग्यता उत्पन्न हो सकती है ? और क्या उनका चरित्र निर्मल तथा सुदृढ़ बन सकता है ? क्या वे अपनी शक्ति एवं समझ के द्वारा उन्नति में बाधक होने वाली रुकावटों को दूर कर सकते हैं ? क्या वे बड़े होकर भी अपनी बुद्धि-विवेक से कोई काम कर सकते हैं ? कदापि नहीं ! वे केवल कंठस्थ करना, नकल करना तथा सेवा करना ही सीख सकते हैं।

स्कूली माहौल में नित नये रोज पनपने वाले दरिद्र रवैये के कारण सुब्रत जैसे हजारों बच्चे स्कूली सामग्री को न सिर्फ पढ़ना ना पसंद करते हैं, बल्कि स्कूल में दाखिला लेने तक से घबराते हैं । उनके जेहन में इतना डर समाया होता है कि स्कूल का नाम लेने मात्र से वे बुरी तरह कंपकपाने लगते हैं । सुब्रत की ही तरह एक और लड़की केन्द्र में आयी जिसका नाम पूजा था । पूजा के सामने जरा भी तेज स्वर में बात करते तो वह घबराकर कांपने लगती थी। दोनों हाथों को सामने उठाकर एक ही वाक्य रो-रोकर बोलती थी ''सर हमें मारियों नहीं ।'' अर्थात सर हमें मारना नहीं ।

इस तरह की स्थितियों का गहराई से विश्लेषण करके देखा जाये तो कक्षा में पढ़ाई जाने वाली सामग्री के बजाय बच्चों को शिक्षक के कठोर और भययुक्त रवैये से घबराहट कहीं ज्यादा होती है जिसके इर्द-गिर्द तक बच्चे रुकना नहीं चाहते । पाठ्य-सामग्री या उसको पढ़ाने के तरीके बहुत बाद की चीजें हैं । इसलिए शिक्षकों को अपना आत्म-मूल्यांकन करने की जरूरत है । साथ ही साथ अभिभावकों में भी स्वचेतना जागनी चाहिये कि बच्चे स्कूलों से क्यों पीछा छुड़ाना चाहते हैं ? या फिर जिस स्कूल में बालक को दाखिला दिलाया है, उसमें बच्चे का मन रम रहा है या नहीं ? कहीं बच्चा स्कूल के फीके और बेरंग माहौल से अनमना तो नहीं होता जा रहा ? इन सब बातों पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है ताकि फिर कोई बच्चा यह न कहें कि हमें स्कूल नहीं जाना !

जब अभिभावकों का दबाव बनेगा तो बहुत सी चीजें अपने आप सुधरती जायेंगी और शैक्षिक तंत्र के साथ-साथ सरकार की नींद भी टूटेगी । इससे अदृश्य बनती जा रही गुत्थी अपने आप सुलझेगी । और शायद ! वर्तमान धुंध में शिक्षा को विलुप्त होने से बचाया जा सकेगा । ◆